["साधना-मंदिर" की सर्व-प्रथम सिद्धि]

मधुकोष

(मुक्तक—काव्य)

" Where the bee sucks, there suck I."

—*Shakespeare.*

रचयिता:—

श्रीरत्नाम्बर दत्त चन्दोला

[साधना-मंदिर, देहरादून, द्वारा प्रकाशित]

प्रथमावृत्ति]   सन् १९३३   [मूल्य १॥) रु०

प्रकाशक :-

श्रीभगवती प्रसाद चन्दोला 'सुकुमार',
अध्यक्ष, साधना-मंदिर, देहरादून ।

मुद्रक:-

श्रीत्र्यम्बक दत्त चन्दोला, बी० ए०,
अध्यक्ष, गढ़वाली प्रेस, देहरादून ।

अन्तिम भेंट—

(अपनी परलोकवासिनी पत्नी के प्रति)

मेरे स्नेह की 'राजू',

विगत वर्ष, पद-विच्छेद के समय, जब मैं स्वयं मृत्यु-शय्या पर पड़ा-पड़ा अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा था, उस समय सती 'सावित्री' के रूप में तुमने ही अपने अलौकिक आत्मिक-बल के द्वारा, धर्मराज से लड़कर, अपने इस जन्म-दुःखी 'सत्यवान' के प्राणों की रक्षा की थी ! उसी निष्काम-सेवा के उपलक्ष में, आज मैं तुम्हारी चिता के पवित्र 'फूलों' के उपहार-स्वरूप, अपने विदीर्ण-हृदय के फूलों का मधुरस – यह 'मधु-कोष'– प्रीति-पूर्वक भेंट करता हूँ ! मुझे विश्वास है तुम्हारी भोली-भाली स्वर्गीय-आत्मा मेरे इस अन्तिम-उपहार को अङ्गीकार करेगी !!

३१-१०-३३ चिर-वियोगी,

(दाह-दिवस) 'रत्नाम्बर'

जीह्वाया अग्रे मधु मे जीह्वा मूले मधुकम ।

(अथर्व० १ - ३४ - २)

— 'मेरी जीभ के अगले सिरे पर मधु हो। मेरी जीभ की जड़ में मधु हो।'

*　　*　　*

मधुमन्मे विक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ॥

(अथर्व १ - ३४ - ३)

— 'मेरा चलना-फिरना मधुमय हो। मेरा स्वाध्याय मधुमय हो। मैं मधुमय वाणी का प्रयोग करता रहूं। मैं मधु के समान हो जाऊं।'

*　　*　　*

मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः ।

(ऋक्० १ - ९ - ६)

— 'मधुमय पवन चले। नदियों का जल मधुमय हो।'

*　　*　　*

मधु नक्तमुतषसो मधुमत्पार्थिवं रजः ।
मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥

(ऋक्० १ - ९ - ७)

— 'रात्रि मधुमय हो। प्रभात मधुमय हो। पृथ्वी, कूप, आदि का जल मधुमय हो। सब का पालक सूर्य हमें मधु प्रदान करे।

*　　*　　*

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः ।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥

(ऋक्० १ - १० - ८)

— 'हमारे उद्यानों, वनों और उपवनों की वनस्पतियां मधुमय हों। हमारी गउओं का दूध मधुमय हो।'

प्रकाशक की ओर से—

कविवर पण्डित रत्नाम्बरदत्त चन्दोला 'रत्न' के चिर-संचित 'मधुकोष' को हिन्दी-जनता के हाथों में रखते हुए आज हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है !

चन्दोला जी का कवि-जीवन वैसे तो सन् १९१५ से, जब कि उनकी आयु केवल १४ वर्ष की थी, आरम्भ होता है। किन्तु, वे सर्वप्रथम सन् १९१९ में अपनी 'कालिन्दी का तट' शीर्षक कविता के रूप में जनता के सामने प्रकट हुए। उनकी बाल्यकाल की रचनाओं का

विषय मुख्यतः 'ईश्वर-भक्ति' तथा 'देश-प्रेम' रहा है। 'प्रसून-प्राञ्जलि' के नाम से इनका पुस्तकाकार संग्रह अभी तक अप्रकाशित पड़ा है। हाँ, समकालीन पत्र-पत्रिका-जगत् में प्रायः उन सब रचनाओं पर सूर्य का यथेष्ट प्रकाश पड़ चुका है।

सन् १९१९-२७ का समय चन्दोला जी के जीवन का वासन्तिक युग है। ये आठ वर्ष कवि के जीवन में विशेष महत्व रखते हैं। कवि के मन-मधुबन की अधिकतर कलियाँ इसी बीच विकसित हुईं। 'मधुकोष-काव्य' में इसी मधु-ऋतु का मधु संचित है। पिछले ७ वर्षों तक अप्रकाशित पड़ा रहने के कारण, 'मधुकोष' मातृ-भाषा की समुचित सेवा करने में अवश्य कुछ पिछड़ गया। किन्तु, इस विलम्ब से अनायास ही एक लाभ भी हुआ है। वह यह कि इसकी पांडुलिपि कितने ही सहृदय साहित्य-सेवियों के कर-कमलों को चूम आई है!

हिन्दी-साहित्य के बृन्दाबन-अधिवेशन पर स्व० पं० माधवराव सप्रे तथा 'कर्मवीर'-सम्पादक पं० माखनलाल चतुर्वेदी ने चन्दोला जी की रचनाओं को आद्योपांत सुना और उन्हें पुस्तकाकार प्राकाशित करने का शुभ परामर्श भी दिया।

सन् १९२५ में समालोचक-प्रवर स्वर्गीय पं० पद्म-सिंह शर्मा ने मेरठ में 'मधुकोष' की कई-एक कवितायें सुनी और उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। साथ ही चन्दोला जी को इन सफल रचनाओं के लिये आशीर्वाद भी दिया।

मई सन् १९२६ में साहित्य-मर्मज्ञ ऑनरेबल सर सीताराम, एम० ए० एल०-एल० बी०, प्रेसिडेन्ट, यू०पी० लेजिस्लेटिव कौंसिल ने, नैनीताल में इस संग्रह का अव-लोकन किया और इस प्रकार अपनी सम्मति प्रकट की।—

"पं० रत्नाम्बरदत्त जी का 'मधुकोष' स्वनामधन्य है— सचमुच ही यह मधु का कोष है। चन्दोला जी की कविता रस तथा माधुर्य एवं सरलता से भरी हुई मनोहर चित्ताकर्षक है! + + + छोटे तथा बड़े, थोड़े पढ़े, अथवा पारंगत धुरंधर विद्वान, अपने २ भाव तथा श्रद्धा के अनुसार इस 'मधुकोष' में से आनन्द उठा सकते हैं। मुझे आशा है कि 'मधुकोष' को ख़ाली करने का प्रयत्न तो सहृदय पाठक करेंगे ही और रत्नाम्बर जी अन्नपूर्णा रूप से इस कोष को ख़ाली न होने देंगे"।

इसके पश्चात नैनीताल में ही सन् १९२७-२८ में स्व० पं० श्रीधर पाठक, स्व० श्री गणेशशंकर विद्यार्थी,

पं० रामनरेश त्रिपाठी, श्रीसुमित्रानन्दन पन्त, पं० गोकुल-चन्द्र शर्मा, एम० ए०, आदि महानुभावों ने चन्दोला जी को रचनाओं को स्वयं उनके कण्ठ से सुना। और आज भी 'मधुकोष' की हस्तलिखित-प्रति पर उनके प्रशंसा-सूचक चिन्ह सुरक्षित हैं।

इनके अतिरिक्त कवि के बर्मा-प्रवास में, मांडले के प्रसिद्ध साहित्यानुरागी श्री निरंजन गलियारा, वैदिक-धर्म-महामण्डल, कलकत्ता, के प्रवर्तक श्री १०८ स्वामी सदानन्द जी, श्री रामचन्द्र भारती, बी० ए०, एल० टी०, श्री मन्मथनाथ दत्त, एम० ए०, तथा प्रोफेसर देवेन्द्र सत्यार्थी प्रभृति अनेक सहृदय साहित्यिकों ने 'मधुकोष' का मधुपान किया।

मई सन् १९३३ की 'सुधा' में ज्वालापुर महाविद्यालय के आचार्य पं० नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ, का 'मधु-कोष' तथा उसके रचयिता के सम्बन्ध में एक नोट प्रकाशित हुआ। उसका कुछ अंश यहां दिया जाता है:—

"आप (श्री रत्नाम्बरदत्त चन्दोला) स्वभाव से ही कवि हैं, क्रांत-दर्शी हैं। आपकी सूझ अनोखी है, और आपकी कविता किसी भी विषय को लेकर इस महान् आकाश में स्वच्छन्दता पूर्वक विचरने की शक्ति रखती

है। +++ आपने आज तक तीन सहस्र से ऊपर कवितायें लिखी हैं— आपका अन्वर्थ 'मधुकोष,' जो मुद्रणालय में प्रकाशनार्थ भेजा गया है, एक अपूर्व प्रतिभा का खेल है, 'रत्न' का जाज्वल्यमान प्रकाश है। वह तो हिन्दी का 'विदग्ध-मुख-मंडन' है!"

जून १९३२ की 'सुधा' में दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक कालिज, देहरादून, के हिन्दी-प्रोफेसर तथा सुविज्ञ समालोचक पं० गयाप्रसाद शुक्ल, एम० ए०, ने 'मधुकोष' के सम्बन्ध में लिखा है :—

"इस ग्रन्थ की रचनाएँ बड़ी रसीली, बड़ी ही जोशीली हैं। शैली ओजपूर्ण, गम्भीर, संयत और आकर्षक है। भाषा मधुर तथा प्रांजल है। उसमें काव्य के लिये अपेक्षित कोमलकान्त पदावली का प्राचुर्य है। सारांश यह कि 'मधुकोष,' काव्य के अनेक गुणों से सम्पन्न तथा हिन्दी-साहित्य की स्थायी निधि है।"

हिन्दू-विश्व-विद्यालय के हिन्दी-प्रोफेसर पं० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, एम० ए०, ने 'मधुकोष' पर अपनी निम्नाङ्कित सम्मति दी है:—

"हृदय का वास्तविक उद्रेक होने के कारण 'रत्न' जी की कविता अर्थ को दूर की कौड़ी बना देने वाले शब्द-

जंजाल की अपेक्षा नहीं रखती। उसकी सरल हृदय-स्पर्शिता ही उसकी विशेषता और उसका सौन्दर्य है। उनके शब्द भाव-ग्रहण में कभी भी बाधा उपस्थित नहीं करते। न उनकी कविता में अनुभूति को पदच्युत कर कल्पना ही सिंहासनारूढ़ हुई है। + + + उनकी कविता का आधार स्वानुभूति है। इसी से 'सुकुमारी', 'रूपलालसा', 'जीवन की घड़ियाँ', 'बनवासी', 'दर्शन की अभिलाषा', आदि रचनायें इतनी उत्कृष्ट हुई हैं। × × × शेक्सपियर के सोनेट्स (Sonnets) में जो काव्य-रस छलका पड़ता है सहृदय समाज के अनुसार उसका कारण उनका कवि के अपने जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। वे किसी काल्पनिक-प्रेमिका को उद्देश्य करके नहीं कहे गये हैं, बल्कि उनमें वास्तविक प्रेमपात्री के आगे अपने हृदय को खोल कर रख देने का प्रयत्न किया गया है। 'रत्न' जी की बहुत-सी कविताओं के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। उनके जीवन-गत काव्य को मैं उनकी रची पंक्तियों में प्रतिबिम्बित पाता हूँ। स्थल २ पर उनके व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं के संकेत मिलते हैं।"

२४ जुलाई सन् १९३३ के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में 'मधुकोष' के रचयिता के व्यक्तित्व तथा उनकी अनेकमुखी सेवाओं का उल्लेख करते हुये, कर्नल-ब्राउन्स-कम्ब्रिज-

इन्स्टीट्यूट, देहरादून, के हिन्दी-प्रोफेसर श्री गोविन्ददास गुप्त, एम० ए०, ने लिखा है —

" + + + Pandit Ratnambar Dutt Chandola 'Ratna' deserves to be publicly honoured not only for his versatile genius, his many-sided activity in the social and literary circles, but also for his real solid work in the cause of Hindi and Hindi literature. + + +"

अर्थात्—"पं० रत्नाम्बरदत्त चन्दोला 'रत्न' जनता के अभिनन्दन के पात्र हैं। अपनी अलौकिक प्रतिभा के लिये ही नहीं, प्रत्युत अपनी सर्वतोमुखी सामाजिक तथा साहित्यिक सेवाओं के लिये भी।"

आल-इण्डिया-फोक-लोर मिशन के संस्थापक श्रीयुत देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'मधुकोष' की समालोचना करते हुए अपना मत यों प्रकट किया है :—

"+ + 'मधु' चन्दोला जी के जीवन का आदर्श है। इस एक ही शब्द में उनके जीवन का रहस्य छिपा पड़ा है।

चन्दोला जी की कविता में जहां सुकवियों की सुकुमार कल्पना तथा प्रतिभा है, वहां ग्रामीण कवियों की सी मर्मस्पर्शिता और सादगी भी यथेष्ट मात्रा में मौजूद है

हिन्दी कविता के इस युग-विशेष में जब कि 'छाया-वाद' और 'रहस्यवाद' आदि नये २ स्कूलों की सृष्टि हो रही है और नवीन प्रणाली के अधिकतर कवि जीवन की व्याख्या करने के बजाय दूसरी ही बातों से अपना तथा जनता का मन रिझा रहे हैं, चन्दोला जी का 'मधुकोष' जीवन के गीत सुनायेगा। आशा है हिन्दी-संसार इन मीठे २ गीतों का दिल खोल कर स्वागत करेगा।"

उक्त सम्मतियों के होते हुये, 'मधुकोष' तथा उसके रचयिता के सम्बन्ध में हमारा कुछ भी कहना अनावश्यक होगा। 'मधुकोष' कितना सरस है?— इसका निर्णय तो स्वयं पाठक ही करेंगे। किन्तु, इसके मुद्रणादि में जो थोड़ी-बहुत त्रुटियां रह गई हैं, उनके लिये हमें अवश्य खेद है। हाँ, हम पाठकों को विश्वास दिलाते हैं कि यदि उन्होंने 'मधुकोष' को अपनाया तो इसके आगामी संस्करण को और भी सुन्दर तथा सुरुचिपूर्ण बनानेका यथोचित आयोजन किया जायगा।

साधना-मन्दिर,
देहरादून।
३० जुलाई, १९३३

—प्रकाशक

कुछ अपने विषय में—

शिशु-प्रदर्शिनी में न जाने कितनी माताएँ अपने लाडले-लालों को प्रतियोगिता-पुरस्कार के लिये खूब नहला-धुला कर साफ़-सुथरे कपड़े पहिना कर, आँखों में काजल और माथे पर ढिटोना लगाकर ले जाती हैं। प्रत्येक ममता-मयी-माता यही समझती है कि उसकी 'गोदी का लाल' सब से सुन्दर है – इनाम उसे मिल ही कर रहेगा। किंतु, निर्णायकों की घोषणा प्रायः अधिकांश माताओं की कोमल कामनाओं को रेणुका–भवन की तरह छिन्न-भिन्न कर देती है। इतना होते हुए भी, वे बेचारी उन भोले-भाले पराजित प्राणियों को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखतीं; प्रत्युत, और भी अधिक प्यार करने लगती हैं। उनकी तुतली-भाषा पर मुग्ध, चाल-ढाल पर लट्टू और हाव-भाव पर मस्त हो जाती हैं।

मातृ-हृदय की इस निश्छल-भावना के बल पर विश्वास करते हुए, आज मैं भी एक छोटी-सी साहित्यिक-'मधुमाखी' का रूप धारण कर हिन्दी-माता की स्नेह-मयी गोद में जा बैठा हूँ। मुझे पता नहीं कि मेरी यह चेष्टा साधिकार है अथवा अनधिकार। किंतु, मुझे इतना भरोसा अवश्य है कि साहित्य-महारथियों की कड़ी कसौटी पर खोटा प्रमाणित होने पर भी माता के समान भावुक हृदय की परख में मैं खरा ही निकलूंगा!

मुझे भय है कि कहीं सुविज्ञ संसार की दृष्टि में मेरा यह छोटा-सा 'मधुकोष' निरे मोम के छत्ते के समान नीरस न प्रमाणित हो! किंतु, मेरे लिये तो यह प्यार की वस्तु है। मेरी आत्मा के फूलों का मधुरस, मेरे जीवन का सारा रहस्य, मेरे साक्षात् अनुभव की सिद्धि-मेरा सब कुछ—इसी छत्ते में छिपा पड़ा है। मेरे हृदय के उस गुप्त-धन को वे ही हमदर्द आँखें खोज पावेंगी, जिन में प्रेम की मादक पीड़ा का सरूर हो। फिर ऐसी अवस्था में कैसे कहूँ कि मेरा यह बच्चों का सा खेल सबका समान रूप से मनोरञ्जन कर सकेगा?

मनुष्य एक जीता-जागता काव्य है। हर सुबह उसके जीवन का एक पृष्ठ खुलता है और शाम को बन्द होजाता

है। प्रत्येक पृष्ठ पर जीवन की, साधारण हों अथवा असाधारण, सभी प्रकार की घटनाएँ अंकित हो जाती हैं। एक बार पृष्ठ बन्द होजाने पर किसी भी घटना में हेर-फेर करना मानवी-शक्ति के परे होजाता है। ऐसे अनेक पृष्ठों को मिलाकर मानव-जीवन के इतिहास-मय काव्य का निर्माण होता है।

शैशव से यौवन, और यौवन से जरावस्था तक, आयु के साथ ही साथ, मानव-हृदय का भाव बदलता रहता है। बचपन का सपना, जवानी का जोश और बुढ़ापेका मोह – जीवन-काव्य के तीन प्रधान खंड हैं। प्रत्येक खंड में अनेक जीती-जागती अनुभूतियों के सर्ग होते हैं। प्रत्येक सर्ग में काव्य-कला की सुग्राह्य-सामग्री अदृश्य भाव से संचित रहती है। इस सामग्री का उपभोग करने वाला कलाकार कवि अपनी मनोगत भावनाओं के सानुकूल एक मनोरम मान-चित्र अपने मानस-पटल पर अङ्कित कर लेता है। और सुख अथवा दुःख की चरम-सीमा पर पहुँचते ही उसकी आन्तरिक प्रतिभा का विकास होने लगता है। उसकीसाधारण अवस्था का अन्त होजाता है। उसके लिये असत्य अस्तित्व सत्य में समा जाता है। उसे एक निरपेक्ष चेतना का अनुभव हो जाता है। उसक

परिमित आत्मा पूर्ण की आत्मा में लीन हो जाता है। वह समझने लगता है कि परमानन्द परमात्मन् ही समस्त शाश्वत पदार्थों का आदि और अन्त है। झरने की झरझर में, सरिता की कल-कल में, पक्षियों के कलरव में, कलियों की चटखन में, अलियों की गुञ्जन में, प्रभात की लालिमा और निशा की कालिमा में– एकमात्र उसी विश्व-कवि की कृति का वह दर्शन पाता है। वह जिधर भी देखता है उधर ही उसे 'उस यार का जलवा नज़र आता है!' वह जो कुछ सुनता है उसमें उसे अपने उपास्य देव के मीठे बोल सुनाई पड़ते हैं। वह जो कुछ भी कहता है उसमें विश्ववाणी का अमर-सन्देश छिपा रहता है।

साधक-कवि की इस रहस्यवाद-पूर्ण परिभाषा में मुझ जैसे साहित्यिक-'सुदामा' को भी अपनी महत्वाकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ रहा है। अतः संसार की कल्याण-कामना के गीत गाने वाले उस महाकवि कृष्ण के विश्व-वन्दनीय चरणों में 'सुदामा के तण्डुल' के समान, मैं भीअपनी कोमल कृतियों की कलियाँ सभक्ति समर्पित करता हूँ!

अपनी इन कृतियों का स्वयं मैं ही आभारी हूँ। कारण, इनके द्वारा ही मुझे 'कवि' का परम पुनीत पद

प्राप्त हुआ है। वह एक अज्ञात मनोव्यापार था जिसने मेरी अबला लेखनी को बंधन-मुक्त चिड़िया की तरह कविता-कानन में स्वच्छन्द फुदकने का अवसर दिया। लोक-दृष्टि में कवि ही कविता का स्रष्टा है— कवि के बिना कविता का आविर्भाव नहीं होता। किंतु, मेरी दीन-दृष्टि में कविता ही कवि को बनाती है; कवि कविता को नहीं बनाता। मैं 'कवि' नहीं था। कविता बनाने की दृष्टि से मैंने कविता नहीं की। मेरे हृदय ने स्वभावतः जब जो लिखा दिया— मैंने निस्संकोच वही लिख दिया। बिना भगीरथ परिश्रम किये ही मुझे अयाचित फल की प्राप्ति हो गई! तभी तो मैं कहता हूँ-'अपनी इन कृतियों का स्वयं मैं ही आभारी हूँ!'

यह मेरे मानस-मित्रों से छिपा नहीं है कि मुझे किसी विद्यालय में नियम-बद्ध शिक्षा नहीं मिली। कम से कम हिन्दी तो मैंने किसी स्कूल में नहीं पढ़ी। हाँ, उर्दू पढ़ने का अलबत्ता बचपन से ही शौक रहा। किंतु, होश सँभालने पर जब मैंने हिन्दी के करिश्मे देखे तो इस सर्वतोन्मुखी भाषा को अपनाने का लोभ संवरण न हो सका। इतना ही नहीं। मैंने हिन्दी की प्रारम्भिक पुस्तकों का अध्ययन शुरू किया और कालान्तर में हिन्दी भाषा पर

अपना थोड़ा बहुत अधिकार भी जमा लिया। दैव-दुर्विपाक से छात्रावस्था में ही मेरे दो बड़े भाई, दो बड़ी बहनें और, उनके असह्य वियोग के परिणाम-स्वरूप, मेरे पूज्य पिताजी, सब दो वर्ष के ही भीतर, गोलोक-गमन कर गये। इन दुर्घटनाओं के कारण मेरे नन्हें से हृदय पर एक गहरी चोट लगी-मेरी कोमल प्रवृत्तियों पर ठेस लगी-और संसार की निस्सारता पर मेरा सुकुमार-मन क्षुब्ध हो उठा! मेरा दृष्टि-कोण बदल गया। स्वर्गीय-विरह (Divine Despair) की वेदना ने मेरे हृदय पर प्रभुत्व जमाना शुरू कर दिया—और उस दार्शनिक-अवस्था में सनातन नारीत्व (Eternal Feminine)की मर्मभेदी भावनाओं से मेरा निष्काम हृदय आन्दोलित हो उठा। परिणामतः मैं होगया 'कवि'!

कालान्तर में मेरा सौन्दर्य-ज्ञान भी बढ़ता गया और मुझे अपनी मनस्तृप्ति के निमित्त एक मंजुल-मूर्ति का निर्माण करना पड़ा। यह उसी मूर्ताधार का फल था कि कविता करते समय मेरे सामने रागात्मक भावों का एक ऐसा कल्पनात्मक-चित्र खिंच जाता था कि मैं रसात्मक शब्द-लालित्य और भाषा-सौष्ठव की ओर विशेष आकृष्ट न हो पाता! सरल भाषा में विमल भावों को प्रकट करना मैं अपना प्रमुख उद्देश्य समझने लगा। यही कारण है कि मेरी अधिकांश रचनायें ग्रामीण-हृदय की

उपज हैं और अल्पांश रचनायें विद्वन्मण्डली के संसर्ग का फल-स्वरूप ।

मैं पागल-सम्प्रदाय का सदस्य हूँ। इस सम्प्रदाय में 'एक भारतीय आत्मा' ने मुझे बृन्दावन साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर दीक्षित किया था। हम लोगों को तीन नियमों की त्रिवेणी में स्नान करना पड़ता है। एक तो अपनी जन्म-सिद्ध मौलिकता की रक्षा करने के लिये संसार के ख्यातनामा कवियों की कृतियों को न तो कण्ठस्थ करना और न उनकी छाप अपने मस्तिष्क पर इस स्थायी रूप से पड़ने देना कि ध्यानावस्थित होते ही दूसरों के मनोवेगों की सेना व्युत्पन्न-मति की स्वगत मौलिकता को कुचल डाले ! दूसरे, अपनी सबसे प्यारी रचना को अपने मनोरञ्जन के लिये अपने तक ही सीमित रहने देना—उसे प्रकाशित न करना। क्योंकि, एक बार जो रचना दूसरों तक पहुँच जाती है वह एक प्रकार से विश्व की सम्पत्ति कहलाती है। उस पर स्वयं रचयिता का ममत्व नहीं रह सकता। सुख-दुःख की एकांत घड़ियों में स्वरचित गीत को गुनगुनाने से जिस अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है वह अन्य साधनों के द्वारा सम्भव नहीं। तीसरे, पक्षियों के कलरव की भांति, कवि के आत्मा का

गीत भी स्वाभाविक रीति से उसके भावुक हृदय से निःसृत होना चाहिये। उसमें 'दिमाग़ी कसरत' की ज़रूरत नहीं। अर्थात् कविता हृदय की उपज होनी चाहिये, मस्तिष्क की नहीं। सांसारिक सुख-दुःख की अनुभूति के साथ जिस कवितामय लोक की सृष्टि होती है— वही वास्तव में, आदर्श विश्व-कवियों के विमुग्ध-विहार का उपयुक्त क्षेत्र होता है।

वैसे तो मानव-हृदय में स्वभाव से ही कविता का बीज विद्यमान रहता है। वह बीज सानुकूल वातावरण होने पर स्वतः अंकुरित, पुष्पित तथा फलित होजाता है। जिस प्रकार 'ऐश्वर्य' मृत्यु की पूर्व-सूचना और 'दैन्य' जीवन का लक्षण होता है। उसी प्रकार मनुष्य का अपने अन्तरतम में छिपे हुये 'कवि' का दर्शन पाजाना अमरत्व का लक्षण और अपने को कवि होते हुए भी कवि न मानना विनाश का चिन्ह होता है। मेरी धारणा है कि कवित्व का विकास प्रकृत होता है। इसलिये शत-प्रतिशत यह आवश्यक नहीं कि बिना वैयाकरण हुए, बिना शब्द-कोष को घोटे हुए, या बिना अलंकारों की कण्ठमाला पहिने हुए,

कोई व्यक्ति 'कवि' कहलाने का अधिकारी न हो। मेरा अपना अनुभव है कि मैंने पद्य-रचना-कौशल सीखने के अभिप्राय से भूल कर भी, क्या व्याकरण, क्या छन्दोशास्त्र, किसी भी ऐसी पुस्तक का आद्योपान्त अवलोकन नहीं किया जिसके बिना मेरे भावों की गाड़ी रुकी हो। तथापि, मैं स्वयम् नियम-बद्ध रचना का पक्षपाती हूँ। मैं पिंगल का गला घोंटकर, हत्यारा बनकर, कवियों की पंक्ति में बैठना सम्मानास्पद नहीं समझता! यह एक दूसरी बात है कि स्वयं मेरी रचनाओं में यत्र-तत्र मात्राएं परलोक की यात्रा कर गई हों अथवा अक्षर क्षर ही रह गए हों! किन्तु, इसका कारण छन्दोशास्त्र के प्रति मेरी अवहेलना नहीं, प्रत्युत अनभिज्ञता है। यह मेरा दोष है, जिसे मैं शत-शत बार अङ्गीकार करता हूँ। सेना-विभाग का जीव होने के कारण, मैं नियंत्रित तथा संयत जीवन, समय-बद्ध दिनचर्या और नियम-बद्ध कार्य-प्रणाली को अवलम्बनीय मार्ग तथा पालनीय कर्तव्य समझता हूँ। अतएव 'मधुकोष' की रचनाओं में जहाँ कहीं भी उपरि-कथित दोष आगया हो उसके लिये मेरी अल्प-ज्ञता का अनुमान कर, मेरे विज्ञ पाठक, आशा है, मुझे क्षमा प्रदान करेंगे। कहीं २ पर 'लख,' 'बिन,' 'निहार,' 'तब,' 'कोर' आदि कुछ हिन्दी के तथा-कथित पद-दलित तथा प्रांतीय शब्दों

का भी मैंने अपनी सुविधा के अनुसार प्रयोग किया है। 'प्रिय' के हृदय में बाण चुभा कर 'प्रिय' बनाना जैसे मेरे कुछ भोले कवि-बन्धुओं को भला नहीं लगता, उसी प्रकार उक्त ग्रामीण-शब्दों को नागरिक-वेश पहिनाकर प्रकट करना मुझे भी अरुचिकर प्रतीत होता है। 'मधुकोष' की पांडु-लिपि का सिंहावलोकन करने पर मेरे अनेक ज्ञानी-गुरुओं तथा साहित्यिक-सखाओं ने, आज से चार-पांच वर्ष पहिले ही, मुझे सतर्क समालोचकों के भावी आघातों से बचाने के लिये शंख फूंक दिया था। किंतु, जिस प्रकार हमारी छिद्रान्वेषी दृष्टि में चमकते हुये सूर्य और दमकते हुये चन्द्रमा तक भी ग्रहण के प्रकोप से नहीं बचते, उसी प्रकार हम लोग भी समालोचकों की दिव्य दृष्टि में अकलंक नहीं रह पाते! और, किसी व्यक्ति को एकदम सर्व-गुण-सम्पन्न, निर्दोष तथा निष्कलंक समझना भी एक प्रकार से विधि के विधान का कटु परिहास करना है!

सो, जैसा कुछ भी मैं अपनी अल्प-बुद्धि, अपरिपक्व ज्ञान और अपरिपूर्ण अनुभव द्वारा लिख सका हूँ, वह प्रेमी पाठकों की सेवा में उपस्थित है। प्रस्तुत 'मधुकोष'-काव्य को मैंने विषय-क्रमानुसार तीन स्तम्भों में विभक्त कर

किया है। यथा—'रस', 'सौरभ' और 'रेणु'। इस मुक्तक-काव्य की अधिकांश रचनाएं सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकीं हैं। दो-चार को छोड़ कर, प्रायः सभी कृतियों का रचना-काल अक्तूबर १९१९ से लेकर जून १९२७ तक है। कुछ असुविधाओं के कारण, जिनमें मेरा बर्मा-प्रवास प्रमुख था, मुझे खेद है, मैं इसे यथा-समय प्रकाशित न करा सका। 'कवि का हृदय', 'रहस्य', 'सुकुमार', 'अन्तिम-अभिलाषा' प्रभृति शीर्षक कविताएं मेरी इसी वर्ष की रचनाएं हैं। पद-विच्छेद के पश्चात् मेरे इन पदों में भी शायद लँगड़ाहट आगई हो। इस दैवी-दोष के लिये भी मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ। अन्त में, मैं अपने न सब पूज्य-पुरुषों तथा स्नेही-सखाओं को सम्मिलित रूप से धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने साहित्य-सेवा के पावन व्रत का पालन करने में मुझे प्रोत्साहन तथा साहाय्य प्रदान किया है।

यदि मेरी इस सेवा से पाठकों का कुछ भी मनो-रञ्जन हुआ तो मैं अपनी दुर्बल लेखनी को धन्य सम-झूँगा।

'सेवा-सदन,' देहरादून,
२२ जुलाई, १९३१ —रत्नाम्बरदत्त चन्दोला।

"छोटी-सी मधुमाखी का है
छोटा-सा 'मधु-कोष'।
छिद्र अनेकों हैं, वन्दो हैं -
जिनमें मीठे दोष!"

रस—

❀

रस

सेवा के फूल—

परम-पदों पर सेवा सुमनों —
को अब नाथ, चढ़ाने दो!
भक्ति-भाव से हमको अपना
मौन गीत अब गाने दो!
नयन-विमोहन-दर्शन देकर —
जीवन शुद्ध बनाने दो,
चरण-रेणु पर लोट-लोट कर
तन-मन-सुधि बिसराने दो!

प्रेम-नदी इस शुष्क-धरा पर —
हमको आज बहाने दो;
दीन-पतित, पद-दलित-जनों को
उर से नाथ, लगाने दो!

अबोध—

छिपूं कहा मैं तेरे भय से!

निविड़-निशा के अंचल में मैं
बहुधा वदन छिपाता हूँ,
सागर के गंभीर सलिल में
डुबकी गहन लगाता हूँ—

पक्षी-सा मैं वन-कुञ्जों में
दुबक-दुबक कर जाता हूँ,
किन्तु, तुझे तो पहिले ही से
छिपा वहां मैं पाता हूँ!

रहता है तू लगा हृदय से,
छिपूं कहाँ मैं तेरे भय से?

भौंरे का मैं रूप बनाकर
कमल-कोष में रहता हूँ,
और कभी बन मछली जल में
उलट-पलट कर बहता हूँ;
धरकर नित नव छद्म-वेश मैं
विश्व-मञ्च पर आता हूँ।
किन्तु, न तेरे दृष्टि-कोण से,
कभी, कहीं, बच पाता हूँ!

दुविधा में हूँ ज्ञान-प्रलय से,
छिपूं कहाँ मैं तेरे भय से?

——

सुदर्शन—

छिपे कहाँ हो ? मेरे नाथ !

तिमिर-तोम के रोम-रोम में
ढूँढ थकी मैं तुमको आज,
जग हँसता है, पर मैं तुम पर
वार रही हूँ अपनी लाज ।

निठुर, बढ़ाओ अपना हाथ,
छिपे कहाँ हो ? मेरे नाथ !

मानस-ताल-मराल-मनोहर !
उड़ो न मुझसे इतनी दूर।
मोती तो क्या, भाव-रत्न की—
भूति लिये हूँ मैं भरपूर।

चले किधर, कर मुझे अनाथ !
छिपे कहाँ हो ? मेरे नाथ !

सुनती थी मैं सुरभि-समय है
निश्चय तव कल-क्रीड़ा--काल;
किन्तु, कुसुम-कलिका भी अलि से
आज पूंछती है तव हाल ।

फिरे-भाग्य का देते साथ !
छिपे कहाँ हो ? मेरे नाथ !

कञ्ज--कुञ्ज में, पुष्प--पुञ्ज में,
खोज रही हूँ तव पद-छाप,
किन्तु, सुदर्शन ! पता नहीं है
किधर कहाँ हो निकले आप ?

दर्शन देकर करो सनाथ,
छिपे कहाँ हो ? मेरे नाथ !

***

उपालम्भ—

बिन फूलों के सेज तुम्हारी
कैसे नाथ! सजाऊँ मैं ?
बिन शब्दों की गीतावलि से
कैसे तुम्हे रिझाऊँ मैं ?
बिन तारों की वीणा मेरी—
कैसे इसे बजाऊँ मैं ?
बिन पतवारों की है नौका
कैसे तट पर लाऊँ मैं !

साधन मेरे छीन सभी तुम,—
छली! स्वयम् छिप जाते हो,
आतुरता फिर लख कर मेरी
मन ही मन मुसकाते हो !
केवल अपना मोद बढ़ाने
मुझको निठुर! सताते हो,
और चुरा नयनों के मोती
निर्धन मुझे बनाते हो !

—०—

भक्त की भावना

मैं हूँ दीन-सुदामा, तुम हो—
माखन-लाल सलोने,
किन्तु, न मेरे पास रहे अब
चावल के भी दोने !

क्या फिर भेंट तुम्हारी लाऊँ ?
कैसे प्रीति जताऊँ ?
कैसे अन्तस्तल का अविगत—
भाव--भेष दिखलाऊँ ?

दबा हुआ हूं उपकारों से—
कैसे शीश उठाऊँ ?
स्नेह-क्रीत हूँ, स्नेह-धनीसे
कैसे दृष्टि मिलाऊँ ?

मैं पागल, उन्माद तुम्ही हो !
मैं ध्यानी, तुम ध्यान ।
मैं हूँ दोष, क्षमा तुम ही हो—
भक्त - विभव - भगवान् !

—o—

आत्मार्पण—

इस दीन-दरिद्री जीवन से अब
मुक्त जननि ! हो लेने दे,
शान्तिमयी गोदी में अपनी
मुझे तनिक सो लेने दे ।
नयन-नीर से मुझको अपने
उर के व्रण धो लेने दे,
अपने सुख में सुखी, दुःख में—
दुखड़ा निज रो लेने दे ।

और नहीं कुछ, केवल तेरे
चरण-कमल छू पाने को—
है यह तेरा सेवक तत्पर
सब कुछ आज लुटाने को !

* * *

गोदी का लाल !

सुन्दर, सुगठित-अङ्ग, मनोहर !

मुट्ठी बाँधे, घुटनों के बल
　　　　भाल उठाये आ जाओ !
उजले दो दाँतों से, कोमल—
　　　　अधर दबाये आ जाओ !
तुम्हें गोद में लेकर जब मैं
　　　　कन्धे पर बिठलाऊँगी ;
कर्ण-द्वार पर तुम किलकोगे—
　　　　चौंक तुरत मैं जाऊँगी ॥

करना तुम नट-नाच निरन्तर,
सुन्दर, सुगठित-अङ्ग, मनोहर !

अन्तिम पल में भी यदि तेरा
प्यारा मुखड़ा लख लूँगी,
एक अनूठे सुख का मधुरस
मन ही मन मैं चख लूँगी।
जाने ऐसे क्या-क्या गुण हैं
भरे तुम्हारे लघु-तन में ?
जो कि जगाते भाव अनेकों
झलक-मात्र से मन-मन में
दास तुम्हारे जीव-चराचर,
सुन्दर, सुगठित-अङ्ग मनोहर !
शुचिता के तुम विशद-रूप हो
कोमलता के कोष तुम्हीं,
सुषमा के शृङ्गार सजीले,
सकल-सृष्टि-सन्तोष तुम्हीं।
सत्य कहूँ यदि, तुम तो मेरे
ईश-प्रदर्शक-दर्पण हो,
आस्तिक-नास्तिक, दोनों ही के,
एक तुम्हीं आकर्षण हो !
मेरे कुल की तुम्हीं धरोहर
सुन्दर, सुगठित-अङ्ग मनोहर !!

—o—

राम-नाम !

राम-नाम अभिराम अनूठा !

छोटा-सा जब लल्ला था मैं
हाथ-खिलौना घर-भर का,
राम-प्रदत्त समझ, कहते थे
मुझको सब राजा घर का।

तुतली बोली में बाबा ने
जब शिष्टाचार सिखाया,
'लाम-लाम' से 'नाम-नाम' फिर
'राम-राम' कुछ तब आया !

कहता मुंह में डाल अँगूठा—
'लाम-नाम अलिलाम अनूठा'!

हिलते थे जब दाँत दूध के
माता पास रुलाती थी,
ठुमक-ठुमक कर मैं जाता था;
बातों से फुसलाती थी ।

गोदी में फिर लेकर मुझको
मिसरी खाने देती थी,
बातों-बातों में दाँतों को
झट उखाड़ भी लेती थी !

राम-भरोसे माँ से रूठा !
राम-नाम अभिराम अनूठा !

तुलसी-कोकिल ने जब स्वर से
मीठा भक्ति-भजन गाया,
समझा मैं भी परम भाग्य से
राम-नाम की कुछ माया ।

किन्तु, उसे आदर्श मानकर
चरण बढ़ाया ज्यों आगे,
ममता-माया, काम-क्रोध मद,
छोड़ अकेला सब भागे !

राम-बिना है यह जग झूठा !
राम-नाम अभिराम अनूठा !!

***

जागरण—

देख रही हूँ तृषित नयन से।
आजा, मधुर, मनोहर, सुन्दर!
शुचितम-छवि झलका जा,
बजा बाँसुरी, कर्ण-कुहर में
श्रवण-सुधा ढलका जा!
प्रमुदित करदे, मृदुल बचन से,
देख रही हूँ तृषित नयन से!

नटवर-नागर, सुखमा-सागर!
प्रेम-प्रभाकर, आजा—
गौरव-गीता गाकर गिरिधर!
दर्शन-दिव्य दिखाजा।
अलसित-तन-मन स्वप्न-शयन से,
देख रही हूँ तृषित-नयन से।

निठुर-दैव से पीड़ित होकर
व्यथित हुई हूँ भारी,
रक्षक तूही, और न कोई,
रख अब लाज मुरारी!
कहूँ और क्या करुणायन से?
देख रही हूँ तृषित-नयन से!

***

गायक !

सुनादे वंशी की वह तान—
जिससे गूंज उठे हृद्धाम !
सुप्त-कल्पना जाग उठे जो
विकसित होवें भाव ललाम !

नगर के कोलाहल से दूर
जहां पर सरिता का है कूल,
वहीं शिला पर बैठ समोद,
क्षण भर अपनी सुध-बुध भूल—

श्रवण-सुधा बरसादे, प्रियतम !
हरदे श्रान्त-पथिक का ताप।
झूम उठें जो जड़-चेतन, सब—
सुन कर तेरा मृदु आलाप !!

***

सौरभ

सौरभ

सुकुमारी—

सजनि, कहो तुम किस मधुबन की
कोमल - कुसुम - कली हो ?
मञ्जु मरालों के किस कुल में
हंसिनि, कहो पली हो ?

उषा - काल के बालारुण की
क्या तुम प्रथम किरण हो ?
याकि सुधाकर की गोदी से
गिरी सुधा की कण हो ?

इन्द्र-धनुष-प्रत्यञ्चा-सी तुम
कौन अरी अनजान ?
उतरी चञ्चल-चपला-सी हो
चढ़कर जलद - विमान ?

क्या हिम-शैल-शिखर से निःसृत
तुम ही सुर-सरिता हो ?
याकि किसी भोले-से कवि की
सुन्दरि ! तुम कविता हो ?

कमल-कोष में छिपने वाली
अलिनी-सी चितचोर—
रेशम-से पर-वाली हो क्या
तितली-रूप किशोर ?

हो तुम किसके-हृदय देश की
शोभा, श्री, श्रृङ्गार ?
हो तुम किसके मन-मन्दिर की
देवी सरल, उदार ?

किस उपवन की कोयल हो तुम,
किस वसन्त की माया ?
किस झरने की शीतलता हो
किस कदम्ब की छाया ?

लता-लजीली, किस तरुवर को
हृदय-दान तुम दोगी ?
किसके जीवन-सागर की तुम
तरणी सुमुखि ! बनोगी ?

***

रूप-लालसा—

रुचिकर-रूप, सलोनी-सूरत,
आँखें नटखट, वेश छली,
चारु चित्र-सी खड़ी अचञ्चल,
भव्य भाव की मूर्ति भली!
आई थी वह जग-उपवन में,
मानों बनकर कुसुम-कली;
मिली भाग्यवश मुग्ध लोभी को
मिसरी की सी शुभ्र डली।

दोनों हाथ बढ़ाकर उससे
बस ज्योंही चाहा मिलना,
कुछ कहने को होंठों ने भी
बस ज्योंही चाहा हिलना,
हृदय-कुसुम ने हर्ष-वेग से
बस ज्योंही चाहा खिलना,
आँखों ने आँखों में जाकर
बस ज्योंही चाहा रिलना—

परछाँई-सी भाग गई वह आगे-आगे मेरे—
(मानो मृग को लेजाता हो कोई हिंसक घेरे!)

***

जीवन की घड़ियाँ—

किसे स्वप्न की कथा सुनाऊँ ?
किसे हृदय की व्यथा सुनाऊँ ?
किसके अंचल में, आँखों के
मोती आज सजाऊँ ?
किसके आगे कातर-स्वर से
मर्म-गीत मैं गाऊँ ?

कहाँ है मेरा तन-मन-प्राण ?
कहाँ है मेरा प्रेम-प्रमाण ?
कौन मुझे इस विपज्जाल से
देगा आकर त्राण ?
कौन हृदय में चुभा हुआ यह
विलग करेगा बाण ?

आशा-पुष्पों की पंखड़ियाँ,
चुनूं कब तलक यों कंकड़ियाँ ?
टूट जायँगी प्रेम-हार की
यों ही क्या सब लड़ियाँ ?
बीत जायँगी जीवन की क्या
यों ही प्यारी घड़ियाँ ?

***

प्रथम-दर्शन !

आँख लड़ी, या सन्धि हुई—
　　　　दो हृदयों में ?
प्रकृति-पुरुष - संयोग हुआ—
　　　　या सदियों में ?
एक प्रणय का पुष्प बँटा—
　　　　दो अलियों में ?
याकि स्नेह की सुरभि पड़ी—
　　　　दो कलियों में ?

एक सूत्र में बँधे दो,
लिए हाथ में हाथ,
प्रभा रत्न की बढ़ गई,
राजःश्री के साथ !

***

८ ध्रुव-धारणा

वे मेरे, मैं उनकी, जग में,
नाता मैं तो जोड़ चुकी;
लोक-लाज का कृत्रिम बंधन
उनके हित मैं तोड़ चुकी।

आज विरह के रथ के घोड़ों
का भी मुख मैं मोड़ चुकी।
अपने मनकी निर्मल गंगा
प्रेम-सिन्धु में छोड़ चुकी !

पकड़ लिया जो मार्ग उसी पर अविरत चलती जाऊँगी,
प्राण चले भी जावेंगे पर 'उनकी' ही कहलाऊँगी !!

❀

अटूट नाता

भूलूं कैसे उनको, जिनकी
चितवन पर मन हार चुकी!
भूलूं कैसे उनको, जिनकी
'हाँ' पर सब कुछ वार चुकी!

भूलूं कैसे उनको, जिन के
कर में कर मैं धार चुकी?
भूलूं कैसे उनको, जिनको
जीवन-धन स्वीकार चुकी?

बिछुड़ गये हैं; किन्तु, न क्या थे वे मेरे सुख-मूल कभी?
चन्द्रदेव को भला चकोरी सकती है क्या भूल कभी?

❀

अमर आशा

तुझे मैं निश्चय प्राप्त करूँगा !

झलक दिखाई जब से तूने
लुप्त हुई सुधि तन की,
पलक न झपका आज तलक भी
शान्ति गई सब मन की !

भला अब कैसे धैर्य धरूँगा ?
तुझे मैं निश्चय प्राप्त करूँगा !

कान्ति-विभूषित चन्द्रानन तव
　　हूँ मैं क्षुद्र-चकोर !
तृषित दृगों से तकते-तकते
　　होने को है भोर।

हृदय की कैसे भ्रांति हरूँगा ?
तुझे मैं निश्चय प्राप्त करूँगा !

आशा ही पर अवलम्बित हूँ,
　　छोड़ दिया सुख-साज !
छल, आडम्बर, कृत्रिमता से,
　　मोड़ लिया मुख आज।

निराशा-नद में नहीं गिरूँगा।
तुझे मैं निश्चय प्राप्त करूँगा !

कष्ट महा नित देने का अरि,
　　करले कोटि प्रयत्न;
किञ्चिन्मात्र न विचलित होगा
　　तेरा प्रेमी-रत्न।

विपति से लेश न कभी डरूँगा,
तुझे मैं निश्चय प्राप्त करूँगा !

❀

विवाह के पूर्व—

सुनती हूँ, मैं शीघ्र किसी के—
अञ्चल में बँध जाऊँगी,
और भला-सा माँझी जीवन-
नौका खेने पाऊँगी।
सुनती हूँ, मैं किसी वृक्ष को
लतिका - सी लिपटाऊँगी,
अपनापन सब खोकर पर की
वस्तु सदा कहलाऊँगी।

कौन ? न जाने कैसे हैं वे ?
जान नहीं, पहचान नहीं;

जिसे देखकर जीना है उस—
मुख का भी कुछ ध्यान नहीं!

❀

विवाह के बाद—

आँख-मिचौनी ? नहीं, न होगी !
बहुत हुआ, अब जाने दो,
चलो, हटो, क्यों छेड़ रहे हो ?
थोड़ा-सा सुस्ताने दो !
क्षण भर को तो मुझे, निठुर !
एकाकी जी बहलाने दो,
याद कुवाँरेपन की रह-रह
आती, उसको आने दो—

जीवन-भर हम दोनों का जब रहना ही है साथ बदा,
फिर क्यों इतनी उतावली ? मन-चाही करना नाथ ! सदा ।

❀

झूला !

झूला झूलूंगी मैं आज।

नन्ही - नन्ही बूंदें लेकर
आया सावन मास,
वन-उपवन में बिछी निराली
मख़मल - सी है घास !

तरह-तरह की चिड़ियाँ हैं नित
करती कल - कल गान—
झरने झर-झर करके अपनी
छेड़ रहे हैं तान !

हरियाली का छाया राज !
झूला झूलूंगी मैं आज !

ललित-लता का तरु-उर पर जो
पड़ा बड़ा - सा हार —
उस पर तितली बन झूलूंगी—
भूलूंगी संसार !

झोंका देंगी सखी - सहेली
गा - गा मंगल गीत,
साँस रोक कर पैंग बढ़ाकर,
होऊँगी भयभीत !

खूब हँसेगा सखी- समाज !
झूला झूलूंगी मैं आज ॥

***

मान-लीला

नहीं, न छेड़ो, नाथ ! मुझे अब
रो लेने दो,
हृत्पाटी के धुंधले अक्षर
धो लेने दो !
बहुत दिनों की सञ्चित-पीड़ा
खो लेने दो,
स्वस्थ-चित्त इस चिर-रुग्णा को
हो लेने दो।

आशातीत-मिलन से चञ्चल
हृदय न होवे,
हर्ष-वेग में भक्ति-भाव भी
विलय न होवे !!

—o—

रूप—

है तू जग में रूप! अनूप।

एक बार बस, जिसने देखा
हुआ वही अनुरक्त;
हृदय-हीन भी तेरा सचमुच
बन जाता है भक्त।

जाने ऐसी तुझमें क्या है
मोहन - शक्ति विचित्र ?
हिंसक-पशु भी बन जाता है
सहसा तेरा मित्र !

प्रेम-नगर का सुन्दर भूप,
है तू जग में रूप ! अनूप।

तेरे बिन सब राज-विभव है
राजा को भी त्याज्य,
किन्तु, सङ्ग में तेरे उसको
भाता बन का राज्य ।

ज्ञानी-ध्यानी, पढ़ा-लिखा हो,
किंवा हो अज्ञान —
तेरे प्रति आकर्षण सबका
होता एक समान ।

छाया है तू, या है धूप ?
है तू जग में रूप ! अनूप।

***

यौवन !

प्यारे यौवन ! रूप-राज्य के
प्रतिभाशाली भूप !
जीवन-तरु के सुरभित फूल,
प्रेम-नदी के सुखमय-कूल !
आओ, मेरे हृदय-देश में
बनकर अतिथि अनूप !

आज तुम्हारे कारण मैं भी
हो लूं जगमें धन्य !
करलूं किञ्चित् हास-विलास,
रचलूं जो मनचाहा रास,
बन-ठन लूं मैं नयनाकर्षक,
सजलूं साज अनन्य ।

यौवन ! शैशव-निद्रा मेरी
करदो सत्वर भङ्ग !
चुपके-चुपके चरण बढ़ाकर,
चञ्चलता से आँख बचाकर,
आना, किन्तु न लाना नाना
विरह-व्यथाएँ सङ्ग !!

*

प्रेम-जलधि !

प्रेम-जलधि है अमित अथाह !

नद-नदियाँ बन, नर-नारी जो
होजाते हैं तुझमें लीन,
लहरों में एकान्त-भाव से—
मिल जाते, हो अन्तर-हीन।

धुल जाता है अन्तर्दाह।
प्रेम-जलधि है अमित अथाह !

किन्तु, स्वार्थ की तरणी पर जो
चढ़कर आते हैं मति - मन्द,
भवँर-द्वार से उन्हें उदर में
बस तू कर लेता है बन्द !

निकल न पाती मुख से आह !
प्रेम-जलधि है अमित अथाह !!

***

प्रीति की रीति—

निभेगी कब तक ऐसी प्रीति ?
सूना कबसे पड़ा हुआ है
झूला मेरा उपवन में,
भींग रही हूँ वर्षा से मैं
निठुर, तुम्हारे चिन्तन में !

किन्तु, तुम्हें क्या ? कुलिश-हृदय हो !
भले किसी की जावे जान ;
देख लिया बस, तुम तो कोरे
सुख के साथी हो, भगवान् !

छली, मैं भाँप गई छल-नीति !
निभेगी कब तक ऐसी प्रीति ?

चैत्र-मास में, इस उपवन में,
जब ऋतुराज विचरते थे,
बिना बुलाये तब तो तुम भी
नित-प्रति आया करते थे !

किन्तु, बुलाने पर सावन में
नाथ ! न क्यों तुम आते हो ?
एक प्रेम का झोंका देने
बातें लाख बनाते हो ।

यही क्या कहो प्रीति की रीति ?
निभेगी कब तक ऐसी प्रीति ?

❀

प्रेम-पथ !

१५ कब से कहता आता था मैं—
'प्रेम-पन्थ है कण्टक-पूर्ण,
सँभल, न इस पर चल पावेगा,
होगी क्षण में आशा चूर्ण !'

किन्तु, न तूने समझी मेरी
सम्मति थी यह कितनी गूढ़ ?
प्रत्युत, आँखें मूंदे योंही
लपक पड़ा तू पागल, मूढ़ !

तीक्ष्ण-निराशा ने कर डाला
जब तेरी इच्छा का खून,
शुष्क कलेजा तेरा हा ! जब—
विरहानल ने डाला भून—

प्रेम - पन्थ के पैने काँटे
छेद चुके जब तेरा गात,
स्वार्थ-पूर्ण जग की चींटी तक
नहीं पूछती तेरी बात !

आँख तभी अब खोली तूने
और समझ कुछ पाया भेद,
अपनी दुर्बलता पर तुझको
खुद ही तब हो आया खेद !

ठिठक पड़ा, बस आगे तेरा
बढ़ा नहीं फिर किञ्चित पैर,
वापिस होना सूझा तुझको
किए बिना उस पथ की सैर !

किन्तु, सुहृत्तम ! चाहे कुछ थी
इच्छा मेरी इसके पूर्व,
अब तो मैं भी तुझको दूँगा
सम्मति अपनी यही अपूर्व,—

'तूने जब प्रस्थान किया है
सब कुछ जिसके पीछे छोड़,
उसकी ज्योति बिना देखे हो
भला नहीं मुख लेना मोड़ !'

दृढ़ हो, अब घबराना कैसा ?
भीरु कहाता है क्यों, मित्र !
सिसक-सिसक क्यों भला बनाता
स्वीय दशा तू स्वयम् विचित्र ?

झिझक-झिझक कर चलना कैसा ?
जमा जमा कर धर अब पाँव,
बढ़ता जा बस तब तक क्रमशः
जब तक आवे तेरा दाँव ।

'बाधाओं से कभी न डरना'—
प्रेमी का है धर्म प्रधान ।
दुख-तरु पर ही सुख के फल की
प्राप्ति बताते हैं विद्वान् ॥

इसी प्रकार तुझे भी सत्वर
मिल जावेगा इष्ट - स्थान,
तेरे मन - उपवन में सुख की
कोयल नित्य करेगी गान !

❀

प्रेम-परिणाम !

15 भ्रम है याकि भयङ्कर भूल ?

प्रेम-पन्थ की बरसों मैंने
जिसके पीछे छानी धूल,
कोटि कँटीले कण्टक भी थे
जिसके कारण समझे फूल—
जिसकी मूर्ति रही इन मेरे
नयनों में नित झूला झूल,
वही निठुर क्या आज बताती
मुझको अपने मन का शूल ?
भ्रम है याकि भयङ्कर भूल ?

अमर-बेलि-सी मेरी आशा
की न उसी ने क्या निर्मूल ?
क्या न उसी ने मुझे बनाया
सूखी-सरिता का सा कूल ?
ज्यों-ज्यों पूजा करता हूँ मैं
त्यों-त्यों होती है प्रतिकूल !
प्रेम-मूर्ति ही नहीं रही क्या,
प्रेम-पुजारी के अनुकूल ?
भ्रम है याकि भयङ्कर भूल ?

***

प्रीति-विसर्जन !

16

करलो जी भर कर परिहास !

सहसा आत्म-समर्पण कर, जिस
देवी का मैं भक्त बना,

जिसके दर्शन का अभिलाषी
अनुपम-छवि-अनुरक्त बना—
जिसके पीछे 'अन्ध - पुजारी'
प्रेम - जगत में कहलाया,
जिसके पूजन - पुरस्कार में
यह नूतन लाञ्छन पाया—

दान उसी ने दिया प्रवास !
करलो जी भर कर परिहास !!

प्रेम-जलधि में कविता-नौका
चला-चला कर हुआ हताश—
देख न पाया इष्ट-द्वीप को
पर्ण-कुटी का पुण्य - प्रकाश !
कर्म - वायु का भीषण झोंका
चला उसी दम, साहस टूटा;
विफल-प्रणय, प्रतिहत-धी होकर
रहा-सहा सब धीरज छूटा !

रचा प्रेम का अन्तिम रास !
करलो जी भर कर परिहास !!

***

वियोगिनी का विलाप !

कहाँ हो ? मेरे जीवन-प्राण !
हाय ! किधर से, किसने आकर मार दिया यह बाण ?
मैं उन पर दृष्टि लगाए थी,
अपनी सुध-बुध बिसराए थी,
इतने ही में किया किसी ने लेकर उन्हें प्रयाण !

अरे निठुर, तू तनिक दया कर, ठहर ज़रा तो और !
अपने पैरों पड़ने दे,
उनका हाथ पकड़ने दे,
उनके बिन, इस जगमें मेरा, कौन भला अब ठौर ?

मेरे नेत्र - जलाशय का तू कमल-सुकोमल दे दे !
मेरे मन-उपवन का फूल,
मुझ सरिता का पावन कूल,
दे दे, मुझको मेरे घर का दीपक उज्वल दे दे।

केश-पाश जो खुलकर मेरा इधर-उधर है उड़ता,
फेंक उसी को दूँगी,
जकड़ इसी में लूँगी,
फिर देखूँगी कैसे मेरी ओर नहीं तू मुड़ता?

सच कहती हूँ, रे अन्तक! मैं दे डालूँगी शाप—
यदि जो तूने मुझको मेरा,
जीवन का सर्वस्व न फेरा,
जल जावेगा तू दुखिया की आहों का पा ताप!

अपना खोया रत्न अगर मैं पाजाऊँगी आज—
धोकर युग नेत्रों के जल से,
बाँध धरूंगी निज अंचल से,
एक न उनकी हठ मानूंगी तज कर भी मैं लाज!

किन्तु, करूँ क्या? खोज थकी मैं, हुई स्वयम् म्रियमाण,
सारी दुनिया भर में हेरे,
नहीं मिले पर प्रियतम मेरे,
उनको देकर कोई ले ले बदले में यह प्राण?
कहाँ हो? मेरे जीवन-प्राण!

***

प्रेम-भिक्षा

पगली के सर्वस्व ! हृदय से हृदय मिला दो;
बहुत दिनों की सकुची कलियाँ आज खिला दो !
मरी हुई आशा-लतिका को पुनः जिला दो;
लुटी हुई वह जीवन-धन की राशि दिला दो ।

होकर मेरे, मुझसे ही क्या दूर भगोगे !
थकी हुई इन आँखों से क्या नहीं लगोगे ?

***

१।

उत्कण्ठा !

किसने राग रुचिर गा-गाकर
मेरा चित्त चुराया था ?
किसने कोमल-कर से छू
हृत्तन्त्री-तार हिलाया था ?

किसने मेरे हृदय-पटल पर
मोहन-चित्र बनाया था ?
किसने परम-पदों के पीछे
अहम्-भाव भुलवाया था ?

कौन सजनि ! वे इतने दिन तक
मेरे उर का हार रहे ?
तुम ही उनसे जाकर कहदो—
'व्याकुल नेत्र निहार रहे !'

किसने सावन-सन्ध्या में
सुमनों से मुझे सजाया था ?
किसने मुझको प्रेम-झकोरे
देकर खूब झुलाया था ?

किसने मेरे बाल-जाल को
उलझन को सुलझाया था?

किसने मेरे बीते-सुख को
फिर से पास बुलाया था ?

कौन सजनि! अनजान बने वे
मेरे प्राणाधार रहे ?
चुपचाप उन्हीं से तुम कहदो—
'व्याकुल - नेत्र निहार रहे !'

नेत्र मूँद कर, भक्ति-भाव से
जब मैं ध्यान लगाती हूँ;
तबतो अविकल उनकी मञ्जुल-
छवि के दर्शन पाती हूँ।

किन्तु, चरण-कमलों को छूने
ज्योंही हाथ बढ़ाती हूँ—
होते अन्तर्धान निठुर, मैं
चित्र - लिखी रहजाती हूँ !

देखूं कैसे उनको आँसू
की जब बहती धार रहे ?
कहदो, आँसू पुँछवाने को—
'व्याकुल-नेत्र निहार रहे !'

प्रतीक्षा !

२०

किसने मन-माला के मेरे
बिखरे सुमन सजाए थे ?
किसने हृत्तन्त्री के फिर से
टूटे तार जुड़ाए थे ?

किसने आँसू के मोती चुन
अंचल में बँधवाए थे ?
किसने प्रेम-भिखारिन को दो-
मीठे बोल सुनाए थे ?

कौन, कहाँ हैं निठुर भला वे,
कब तक यों भटकाएँगे ?
हाथ हृदय पर रख सखि ! तू ही
कहदे, वे कब आएँगे ?

किसने वंशी छिन जाने पर
नाना-रूप दिखाए थे ?
किसने झूले हो पर बैठे
तीनों लोक झुझाए थे ?

किसने आँख-मिचौनी के मिस
विश्व-भेद प्रकटाए थे ?
किसने भक्ति-सलिल में मेरे
माया-मोह डुबाए थे ?

कभी सजनि, उस मोहन-छबि के
नयन न दर्शन पाएँगे ?
मेरे शून्य-शरीरालय में
प्राण-अतिथि कब आएँगे ?

उन चारु-चरण-चिन्हों पर मैं
स्मारक धरने धाई हूँ;
नाना देश-विदेश भ्रमण कर
वृन्दावन में आई हूँ।

कुञ्ज-गली में पाजाने की
आशा उर में लाई हूँ।
किन्तु, सजनि! क्या कहूँ कि जी में
कितनी मैं अकुलाई हूँ ?

योंही उनकी धुन में मेरे
प्राण चले क्या जाएँगे ?
मेरे अन्तिम-शब्द यही बस
होंगे—'वे कब आएँगे ?'

***

प्रेम-भिखारिन

करते हो क्यों मुझे निराश ?

चिर-संचित आशा के अधिपति !
आओ, आओ, मेरे पास ।
अन्धकार में पड़ी - पड़ी मैं
छोड़ रही हूँ दीर्घोच्छ्‌वास !

डालो मुझ पर प्रेम - प्रकाश;
करते हो क्यों मुझे निराश ?

दिखा-दिखा कर झाँकी सुख को
करते हो क्या तुम उपहास ?
हास - हास में कहीं न होवे
मेरे जीवन ही का ह्रास !

खेल तुम्हारा—मेरा नाश !
करते हो क्यों मुझे निराश ?

निठुर, हँसा करते हो तुम, जब—
भरती हूँ मैं ठण्डी साँस ;
किन्तु, असर इन आहों का क्या
तुम्हें न देगा कुछ भी त्रास ?

होगे तुम भी कभी हताश !
करते हो क्यों मुझे निराश ?

जग के नाते, जग में मिल लो,
करदो मेरा सफल प्रयास ;
अन्त-समय में निश्चय सबको
करना ही तो है सहवास !

खोलो माया का यह पाश,
करते हो क्यों मुझे निराश ?

❀

परीक्षा—

तपाओगे क्या तप्त - हृदय को ?

दग्ध हुआ चिन्ता - ज्वाला से
पहले ही से तन है,
शोक-शरों से छिन्न-भिन्न यह
हुआ हरिण-सा मन है !

न तौभी शान्ति मिली निर्दय को !
तपाओगे क्या तप्त - हृदय को ?

प्रबल परीक्षा-पावक में यों
इसे न डालो, मानो !
स्वर्ण - समान बढ़ेगी इसकी
कान्ति अमित सच जानो ।

कभी की त्याग चुकी संशय को !
तपाओगे क्या तप्त - हृदय को ?

'सफल-मनोरथ होऊँगी मैं
कभी जटिल - जीवन में–'
यही अनूठी अविचल आशा
बँधी हुई है मन में ।

करूँगी निश्चय प्राप्त विजय को,
तपाओगे क्या तप्त - हृदय को ?

***

उनके प्रति—

(चौपदे)

देख उस दिन निज कुटी में आपको,
घाव बचपन का हरा फिर होगया !
थी पुरानी बात प्रायः हो चुकी,
प्रेम का उत्साह भी था सो गया।

किन्तु, सहसा आपने दर्शन दिखा,
शुष्क-जीवन में नया रस भर दिया !
हत-प्रणय-कवि को मनाने के लिए
खोल कर इतिहास आगे धर दिया।

की तपस्या सात वर्षों तक कड़ी
यातनाएँ भी सहीं क्या-क्या नहीं ?
किन्तु, फल कुछ भी न पाया अंत में
लालसाएँ लोभ - सरिता में बहीं !

ठीक है, अनुमान होता है किसे,
दूसरों के मानसिक - सन्ताप का ?
इस लिये निर्णय करेगा कौन अब—
दोष मेरा है कि इसमें आपका ?

भाग्य की लीला बड़ी विकराल है,
दोष फिर किसके भला मत्थे मढ़ूँ ?
है वही होता कि जो निर्दिष्ट है,
क्यों न हम फिर पाठ विस्मृति का पढ़ें ?

भूल जाने दो, समझ लो स्वप्न था,
और योंही बालकों का खेल था !
थी सरल आख्यायिका वह प्रेम की-
या हुआ दो पागलों का मेल था !!

❀

स्वप्न

मिलन—

छोड़ कर नगरी गया उस पार जो,
थी वहाँ कोई प्रतीक्षा में खड़ी—
कुछ समझ पाया न मैं, वह कौन थी?
मौन मुझको देख कर वह हँस पड़ी!

मैं चकित था, और वह चुपचाप थी,
तीसरा कोई नहीं था उस घड़ी!
पास झरना बह रहा था मोद से—
और उलझन थी यहाँ मन में पड़ी!

परिचय—

यों रहा मौनाभिनय कुछ देर तक,
चित्त में फिर खलबली-सी मच गई!
आत्म-परिचय के लिये दोनों बढ़े,
और दैवी रास-लीला रच गई!!

प्रेम—

हो गया परिचय मिले दोनों हृदय,
सावधानी से चरण आगे बढ़े—
प्रेम की रस्सी पकड़ कर मोद से
स्वर्ग के सोपान पर दोनों चढ़े!

वियोग—

शुभ घड़ी आ भी न पाई थी कि बस—
पैर दोनों का अचानक झुक गया!
हाथ से रस्सी छुटी—अकुला गए—
प्रेम-नाटक बीच ही में रुक गया!

गिर पड़े, चोटें लगीं, मूर्छित हुए—
प्रेयसी के पाश से प्रियतम गया;
मोह - निद्रा से जगे, आँखें खुलीं,
स्वप्न था! यह जान कर मिट भ्रम गया!!

***

कवि का हृदय—

सृष्टि के सौंदर्य का शृंगार है कवि का हृदय,
स्नेह-सरिता का समुद्गम-द्वार है कवि का हृदय।
संसार के सद्ज्ञान का भण्डार है कवि का हृदय,
साधकों की सिद्धि का आधार है कवि का हृदय॥

वेदनाओं का करुण इतिहास है—
कवि का हृदय;
हास है, उल्लास है, उच्छ्वास है—
कवि का हृदय!

***

रेणु

ऐ माली !

निठुर न इतना बन, ऐ माली !

पुष्पावलि से भ्रमरावलि को
प्रेम-सहित तू मिलने दे !
युगल हृदय की सकुची कलियाँ
आज ज़रा तू खिलने दे ।

बजा रही हैं तितली ताली !
निठुर न इतना बन, ऐ माली !

भाग जगे उपवन के तेरे,
कोयल आज पधारी है;
आम्र-बौर पर इसे बिठाले
स्वागत की अब बारी है ।

वरना, कोसेगी हर डाली,
निठुर न इतना बन, ऐ माली !

तरु से मिलने लता लजीली
साहस करके आई है !
विलग न जावें कहीं, इसी से
प्रेम - रज्जु बन छाई है ।

छेड़ न इसको, देगी गाली,
निठुर न इतना बन, ऐ माली !

लगे हुए हैं जब, ऐ माली !
तेरे तरु पर फल सुन्दर,
लुभे न जी क्यों तोती का फिर ?
चखे न उनको वह क्योंकर ?

छीन न भूखे से तू थाली;
निठुर न इतना बन, ऐ माली

बरसों स्नेह - सलिल से सिंचित
आशा - बेल सुखाने में;
तुझे न जाने क्या मिलता है
दो - दो हृदय दुखाने में ?

माली है, या जग - जञाली ?
निठुर न इतना बन, ऐ माली !

***

मतवाली मालिन !

क्या तू पगली है ? री मालन !

पाल-पोस कर जिन पौधों को
तूने इतना बड़ा किया;
कष्ट निरन्तर सहकर जिनको
अपने पैरों खड़ा - किया—

उनकी आशा - कलियों को ही
तूने क्यों हा! तोड़ लिया?
उनके शोभा - सुमनों को निज
माला में क्यों जोड़ लिया?

इसी हेतु था लालन - पालन?
क्या तू पगली है? री मालन!

स्वार्थ - सिद्धि में ज्ञान गँवाकर
आज हुई मतवाली तू,
देवी समझ रहे थे तुझको
निकली पर, कङ्काली तू?

रुण्ड - मुण्ड की माला लेकर
चली कहाँ तू, री सबले!
अपनी निष्ठुर करतूतों पर
ज़रा सोच तो तू अब ले!

करले पापों का प्रक्षालन,
क्या तू पगली है? री मालन!

***

पगली !

री उन्मादिनि, किस मद में तू झूम रही है ?
लक्ष्य-हीन-सी किस नगरी में घूम रही है ?

चञ्चल बाला-सी हँसती है, फिर रोती है;
किन सपनों से जाग-जाग कर फिर सोती है ?

विग्रह करके संधि स्वयम् क्यों कर लेती है ?
संचित करके धन क्यों वितरण कर देती है ?

क्रूर कभी तो करुण कभी क्यों बन जाती है ?
कोमल स्वर में कभी तीव्र में क्यों गाती है ?

आज पिये तू सचमुच मदिरा की प्याली है–
परम-पदों के लिये बनी या मतवाली है ?

***

बुढ़िया की दिवाली—

दीप जलाऊँगी मैं आज,
हो जिससे सन्तुष्ट समाज ।

दीप कहीं से, तेल कहीं से,
और कहीं से बाती लूँगी,
बले-दीप यों निज कुटिया के
आले-आले में धर दूंगी !

विस्मित होंगे तारक - राज,
दीप जलाऊँगी मैं आज !

इधर-उधर से शिशुदल आकर,
खूब हँसेगा मेरे ऊपर —
"देखेगी क्या अन्धी नानी !
ज्योति - छटा तू दीप जलाकर ?

कहती है तू किसके काज—
दीप जलाऊँगी मैं आज !"

बारी - बारी चूम मुखों को
भेद उन्हें मैं समझाऊँगी—
"तुम-से उजले - दीपों को मैं
किसके मिस फिर बुलवाऊँगी ?

सजा तुम्हारे हित यह साज !
दीप जलाऊँगी मैं आज !"

***

बनवासी !

तेरी नगरी के उस पार !
खुला हुआ है आश्रित के हित
जहाँ निरन्तर द्वार !

निर्जनता के मधुर-क्लेश में
नीरवता के विधुर - वेश में
बन-देवी के हृदय - देश में—

कुटी बनाकर रहा करूँगा
सुख से दिन दो - चार,
तेरी नगरी के उस पार !

पशु-पक्षी से मेल करूँगा,
मृग-छोनों से खेल करूँगा,
मोरों से रँग-रेल करूँगा;
प्रेम-नदी के कूल करूँगा—
नित्य विमुग्ध - विहार,
तेरी नगरी के उस पार !

पुष्प-लता से सेज सजाकर,
पत्रों का परिधान बनाकर,
प्रकृति-प्रिया की थपकी पाकर,
स्वप्न-लोक का यात्री बन,
पाऊँगा शान्ति अपार,
तेरी नगरी के उस पार !

प्रभु - प्रतिभा के पुण्य-धाम में,
नव आशा से नये ग्राम में,
रमकर अपने रम्य - राम में,
ऊँच - नीच का भूल सभी
जाऊँगा तुच्छ विचार,
तेरी नगरी के उस पार !

❀

अतिथि !

अतिथि, अनिश्चित तिथि में आए,
और न जाने कब चल दोगे ?
हँसा-खिलाकर अनजानों को—
पुनः रुलाकर अब चल दोगे ?
जोड़ किसी से झूठा नाता
तोड़ प्रेम का बन्धन लोगे;
छोड़ कलपता अपनों को तुम
मोड़ जगत से निज मन लोगे !

आशावादी निर्दोषों को
रे मायावी, छल जाओगे;
स्वर्ण-स्वप्न-सा साथ तुम्हारा,
कल आए थे, कल जाओगे !!

अनाथ या सनाथ ?

[अनाथालय के एक बालक के प्रति]

कौन कहता है कि बालक !
तू अबन्धु, अनाथ है ?
जबकि सबका नाथ रहता
नित्य तेरे साथ है !

है पिता तेरा वही जो
है पिताओं का पिता,
माँ वही तेरी जननि - भू
जो जगत में पूजिता ।

बन्धु हैं सब जीव तेरे,
स्नेह का तू पात्र है;
है जगत यह पाठशाला,
तू इसी का छात्र है।

क्या तुझे चिन्ता, अगर
घर-बार तेरा है नहीं,
जबकि है आकाश ऊपर
और नीचे है मही!

क्या तुझे करना विपुल-धन-
राशि से तू ही बता?
जब कुबेरों का तुझे
नित ज्ञात रहता है पता!

सो, कहूँगा अब न तुझको
प्रिय! कदापि 'अनाथ' मैं,
बल्कि गौरव से कहूँगा—
भाग्यवान 'सनाथ' मैं!

*
* *

भिक्षुक से—

रे भिक्षुक, तू किस आशा से
माँग रहा है मुझ से दान ?
जो है तू सो मैं भी तो हूँ,
दोनों ही हैं एक समान !

तेरा असली रूप प्रकट है
मेरा है यह नकली वेश,
तूही फिर बतलादे अन्तर
मुझमें - तुझमें कौन विशेष ?

सुन्दर - सुथरे कपड़ों में यह
छिपा हुआ है श्याम शरीर,
नाना चिन्ताओं के जिसमें
चुभते रहते निशि-दिन तीर !

उज्ज्वल-वर्ण, मनोरम-छवि यह,
है सब दिखलावे की शान,
बाहर जो उद्यान रम्य है,
भीतर है वह घोर मसान !

तू तो है एकाकी, तुझको—
भरना है बस अपना पेट,
किन्तु, मुझे बनना पड़ता है
घर के भारों का आखेट !

तू तो लंघन रख सकता है
दो - दो दिन भी प्रति सप्ताह,
किन्तु, भूख से विचलित होकर,
यहाँ निकलती हर-दम आह !

तुझ पर तो है दाताओं की
पड़ती रहती करुणा - दृष्टि,
द्वार - द्वार से तुझ पर होती
मुट्ठी भर आटे की वृष्टि !

किन्तु, मुझे तो भिक्षा तक भी
लेने में आती है लाज,
मेरे सिर पर चढ़ा हुआ है
भूत बना यह 'सभ्य'-समाज !

जहाँ चला जाता है तू बस—
है वह तेरा ही घर-बार,
किन्तु, मुझे तो घर भी होते
बे - घर होना है लाचार !

अतः बता किस मुंह से भिक्षुक !
दूँ मैं तुझको भिक्षा - दान ?
'आह' बची है, यदि लेना हो,
ले ले 'प्राणों का धन' मान !

***

बन्दी !

मैं बन्दी हूँ, मेरा सब कुछ
है यह तममय कारागार !
विश्व मूँद ले निज कानों को—
सुन मत मेरी करुण - पुकार !

वायु ! उसासें तू भी मत ले
दहल उठेंगे उर के द्वार;
चतुर गवैये ! चुप होजा तू—
छेड़ न वीणा के मृदु तार !

मेरी मूक - कथा सुन लेंगी
चारों पत्थर की दीवार;
ठण्डी आहें पंखा झलकर
हर लेवेंगी मन का भार।

गाने से भी बढ़ कर होगी
मधुर शृंखला की झंकार;
ताल - स्वरों से रुचिकर होगी
अगणित कोड़ों की फटकार !

मेरे भग्न हृदय के रक्षक,
घूमेंगे बन पहरेदार,
और बजा घड़ियाल, करेंगे—
निज चेतनता का विस्तार

नग्न-धरा का चुम्बन मुझको,
देवेगा आमोद अपार,
छत की काली कड़ियों पर भी
खुद जावेंगे हृदयोद्गार ।

लूट लिया था कभी किसीने
मेरा सोने का संसार
हरा-भरा वह उपवन मेरा
कभी हुआ था जल कर क्षार !

किन्तु, आज तो सुस्मृति उनकी—
आ-आ करती मेरा प्यार
आशावादी बना नसों में
करती शोणित का सञ्चार !!

***

धन !

धन, है तेरी शक्ति महान !

तेरी इच्छा की उँगली के
हिलने की है देर,
हो जाता है बड़े-बड़ों की
प्रभुता में भी फेर !

उजड़े गाँवों में तू करता
महलों का निर्माण;
तेरे छूने से फिर आता
मुर्दों में भी प्राण!

जीवन-दायी जड़ी समान,
धन, है तेरी शक्ति महान!

नीचों को भी उच्च बनाकर
देता है तू मान,
किन्तु, कुलीनों की लेता है
तड़पा कर तू जान!
तेरे पीछे बह जाती है
क्षण में शोणित-धार,
तेरे कारण उठ जाता है
सत्यासत्य-विचार!

तू ही जग में सर्व-प्रधान!
धन! है तेरी शक्ति महान्!!

*
**

कल्पना !

विचरण करती है स्वच्छन्द,
मन्द कहीं गति, कहीं अमन्द !

बिना पंख के उड़ती जाती,
(मिलती कहीं बिछुड़ती जाती),
बिना चरण के चलती जाती,
सारे जगको छलती जाती।

युगल नयन निज करके बन्द,
विचरण करती है स्वच्छन्द !

निर्धन-कवि - धन राशि विपुल तू,
दीन कृषक सुख - साज बहुल तू,
विरही - मन - अवलम्ब अतुल तू,
गगन धरा के पथ में पुल तू ।

ज्यों यति - हीन निराला - छन्द,
विचरण करती है स्वच्छन्द !

शयन - शिविर में आकर मेरे,
करती शय्या के तू फेरे,
हो जब निद्रा मुझको घेरे
आता मुँह में पानी तेरे;

तुरत चुराती स्वप्नानन्द,
विचरण करती है स्वच्छन्द !

***

स्मृति !

तू कौन कहाँ से आती है ?
क्यों सहसा फिर छिप जाती है ?

जन्म - भूमि से निर्वासित हो
दूर - देश जब जाता हूँ,
पर नगरी में निज-जन-दर्शन
पाने को अकुलाता हूँ,—

बहुत दिनों की परिचित-सी तू
आकर मुझसे मिलती है,
मेरे मन की मरुस्थली में
चन्द्र - छटा - सी खिलती है;

छाती से मुझे लगाती है,
तू कौन कहाँ से आती है ?

कठिन परिश्रम से जब थक मैं
भूख - प्यास से रोता हूँ,
एक फटा - सा कम्बल ले जब
नग्न धरा पर सोता हूँ !

नेत्र अधमुँदे, कोमल - कर से
तू ही चरण दबाती है,
मेरी उस आपन्न - दशा में
तू ही धैर्य्य बँधाती है,

'दुख में सुख' सिद्ध कराती है
तू कौन कहाँ से आती है ?

मन-मिलिन्द के लिए सुरभि बन
सुमन - बीच तू रहती है
वायु-वेग के साथ मुझे ले
इधर - उधर तू बहती है ।

जल में भी परछाँई तेरी
झिलमिल नित मैं लखता हूँ,
होने पर एकाकी, तेरे—
बल पर साहस रखता हूँ ।

भूतल पर स्वर्ग दिखाती है,
तू कौन कहाँ से आती है ?

❀

परिवर्तन !

चल सखि, तुझको आज दिखादू
अपना प्यारा पुष्पोद्यान,
जी भर तुझको आज सुनादूँ
कोकिल का मृदु - मञ्जुल - गान ।

सलिल - प्रपातों की सुन लेना
अर्थ - हीन - सी तुतली तान,
कमल - दलों से शोभित सरवर
लखकर पाना तृप्ति महान।

पर सखि, चुपके - चुपके चलना
बनकर भोली - सी अनजान,
कहीं चरण की चाप न करदे
सारे कलरव को सुनसान!

भूल न जाना सुध - बुध, सुनना
बातें मेरी धर कर ध्यान,
होगा तब ही तुझको जग के
परिवर्तन का पूरा ज्ञान।

देख जहाँ जलमय थल है, सखि!
कभी वहाँ था निर्जल ताल;
जहाँ विचरते हिंसक - पशु थे
वहाँ खेलते मीन - मराल।

जिन विटपों के नीचे बसते
काले विषधर थे विकराल,
वहाँ तितलियाँ तन्मय होकर
झूल रही हैं झूला डाल।

बीहड़ वन में, पुष्पों का जब
आता था भू - वर्षा - काल
शोणित - तर्पण - सा लगती थी
सूत्र - विहीना - किंशुक - माल।

आज बना वह नन्दन - वन - सा
सुरभित सुमनों का पण्डाल,
अर्पित ऋतुपति को करते हैं
तरुवर निज फूलों का थाल।

छौंकर और बबूलों का था
बिछा जहाँ पर माया - जाल,
वहाँ बिछा है रंग - बिरंगा
मख़मल का - सा शाल - विशाल।

नीरस कुसुमों पर थे भौंरे—
टूटा करते जहाँ अकाल,
कलियों की हैं वृन्तावलियाँ
रही वहाँ अलियों को टाल।

जहा अमंगल लक्षण वाले
घूम रहे थे गृध्र - शृगाल;
वहाँ पले मृग – छौने चलते
उछल - उछल मस्तानी चाल।

जहाँ उलूकों की बस्ती थी,
जहाँ पड़े थे नर - कङ्काल
करते हैं कल्लोल वहाँ पर
शुक के शावक, पिक के बाल !

देख लिया, सखि ! तूने मेरा
सुन्दर सुखमय क्रीड़ा - स्थान ?
इन कुञ्जों की शांति - दायिनी
तुझको भाती है मुसकान ?

तृप्त हुए क्या नयन न तेरे
देख मनोरम लता - वितान ?
नहीं समझ तू पाई है क्या
न्यायी-विधि का नियत-विधान ?

सजनि, तभी तो कहती हूँ मैं,
यही प्रकृति का नियम प्रधान—
व्याप रहा है अटल - रूप से
सारे जग में एक समान !

आज विरह से विकलित जिसका
होता है मुख - मण्डल म्लान,
उसे मिलन की घड़ी करेगी
कल को सुख - संतोष प्रदान ।

***

चित्रकार !

चतुर - चितेरे, छिपे - छिपे तू
निज कौशल प्रकटाता है
मानस - पट पर पलक झपकते
अगणित चित्र बनाता है ।

अद्भुत तेरी क्षमता ! समता—
कौन भला, कर सकता है ?
यथारूप में गागर ही में
सागर तू भर सकता है !!

मुक - हृदय के चित्रालय में
गुप्त - भाव से रहता है,
वह तेरे, तू उसके कानों - कानों
में कुछ कहता है ।

इसी तरह की मूक - कहानी
वह कहता तू लिखता है,
कवि की कविता का मुख - मण्डल
तेरी कृति में दिखता है ।

कभी प्रेम के नाटक का पट
अङ्कित तू कर देता है,
कभी कृपा के कुसुम बिछाकर
अथिति - हृदय हर लेता है ।

बीते - सुख की सुन्दर - झाँकी
दुखिया को दिखलाता है,
भारी दुःख - दलों से लड़ना
सुखिया को सिखलाता है ।

यौवन के मदमातों को तू
अन्तिम - दृश्य सुझाता है
यम के द्वार खड़े बृद्धों को
शिशु का हास सुनाता है !

शोणित - सिंचित - रणस्थली पर
कायर को ले जाता है,
शव - शयनालय की वीरों को
तू ही सैर कराता है ।

निराकार का भी तो तूही
रूप बनाता है साकार,
उस असीम को परिमित करता
सीमाओं में विविध प्रकार !

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बनस्पति,
सबका तू ही सुषमागार !
केवल तू ही कर सकता है
तीनों लोकों का शृङ्गार !!

***

रत्न और पाषाण ।

[पीयूष छन्द]

ज्ञात हमको है नहीं क्यों धूल पर
गिर पड़ा था 'रत्न' इक सुन्दर महा;
यों उसे रज में पड़ा अवलोक कर,
एक दिन 'पाषाण' ने उससे कहाः—

"रत्न ! क्यों तू लोटकर यों धूल में
स्वीय गौरव-मय गँवाता कांति है ?
कंकड़ों के बीच बेसुध - सा पड़ा,
क्यों बता, फैला रहा तू भ्रांति है ?

"निज अलौकिक सद्गुणों के पुंज का,
क्या नहीं तुझको ज़रा अभिमान है?
छोड़कर क्यों संग मणि - मुक्तादि का,
तू कराता आज निज अपमान है?

"जा किसी धनवान ही के गेह में,
क्यों नहीं देता उसे यश-दान तू?
हो जटित या रानियों के हार में,
क्यों नहीं पाता अमित सम्मान तू?

"हो नृपति के सिर, मुकुट पर सोहकर,
क्यों न दिखलाता वहाँ तू नृत्य है?
देव - प्रतिमा वा शिवालय में पहुँच
क्यों न तू होता अरे कृत - कृत्य है?"

उक्त प्रश्नों को सुहृद 'पाषाण' के
'रत्न' था एकाग्र-मन से सुन रहा;
जब उसे देखा, हुआ चुप, उस घड़ी,
सिर झुका आदर-सहित उसने कहा:-

'ठीक है, पाषाण, कहना आपका,
किन्तु इसमें भी छिपा कुछ भेद है।

इस लिए इस क्षुद्र से अपमान का
अब नहीं होता मुझे कुछ खेद है।

"'रत्न' हूँ मैं नाम से तो क्या हुआ ?
पर, असल में, हूँ न क्या पत्थर, कहो ?
इष्ट है मुझको भला फिर त्यागना,
संग पत्थर और कंकड़ का अहो !

"दीन से बनकर धनी, मानी भला
दीन-जन को भूल जाना चाहिये ?
और क्या पाकर ज़रा - सी उच्चता
दर्प से फिर फूल जाना चाहिये ?

"कंकड़ों या पत्थरों को देख लें
दृष्टि से अवहेलना की अज्ञ-जन;
पर - 'नहीं कोई कहीं इनसे अधिक
पर-हितैषी'—यह बताते विज्ञ-जन।

"क्षुद्र-सी कुटिया, बड़े मंदिर-महल,
हैं न क्या इन पत्थरों के ही घने ?
हो गुहा छोटी, कि हों भारी अचल,
हैं सभी तो पत्थरों के ही बने।

" 'आत्म-श्लाघा हैं गुणी करते नहीं'
यह सिखाते शुभ्र रजकण आपके।
क्या कहूँ ? कितना कहूँ ? कैसे कहूँ ?
है सुगम गिनना न गुण-गण आपके।

"क्या हुआ, बहु-मूल्य या उपमान हूँ,
रंग का या रूप का हूँ धाम जो ?
पर, नहीं कुछ काम का तब तक सभी,
विश्व-सेवा में न आया काम जो।

"हो न सकती सत्य शोभा, हों जटित
ताज में, गृह द्वार में, या हार में,
वस्तुतः होता बड़ा अपमान है
मोह से हो पद - दलित संसार में।

"प्राप्य है आदर तभी इस लोक में
दूसरों का हित अगर करता रहे;
दान देकर लोक - हित सर्वस्व को
दुःख दीनों का सदा हरता रहे।"

❀

दो आँसू !

कहाँ हुई तू अन्तर्धान ?

भोली बाला ! ठहर, अकेली—
कहाँ चली उस ओर अजान ?
वह तो खारे पानी का है
सागर अतल, अकूल, महान !

वहाँ न जीवन का जल-यान,
कहाँ हुई तू अन्तर्धान ?

बहा-बहा कर अश्रु-सलिल की
नदियाँ मैं हिम-शैल समान,
सागर एक नया भर दूंगा—
गोदी ही में स्वच्छ, महान।

उसमें जी भर करना स्नान !
कहाँ हुई तू अन्तर्धान ?

तेरी मीठी - मीठी वाणी
बीन - विनिंदित तुतली - तान—
कौन सुनेगा निर्जन पथ में,
कौन धरेगा तेरा ध्यान ?

लहरों में लय होगा गान !
कहाँ हुई तू अन्तर्धान ?

कल तक रंग विरंगे कपड़े
थे सब शोभा के सामान;
आज शुक्र - शवाम्बर तुझको
करता है सन्तोष प्रदान !

विधि का कैसा विकट विधान !
कहाँ हुई तू अन्तर्धान ?

केश गुँथाकर दर्पण में निज
मुख की लखने चिर - मुसकान,
सरल - सुशीले ! छोड़ हमें क्यों
चली गई तू अमर - स्थान !

आजा रानी ! कहना मान,
कहाँ हुई तू अन्तर्धान ?

सुकुमार !

हे चारुचन्द्र सुकुमार !

तेरे जीवन पर है मेरे जीवन का आधार।

तू है मेरी ममता - माया,
तुझमें केन्द्रित है यह काया,

तेरे कोमल कंधों पर है मेरे कुल का भार।

मेरे सुख की मृदु - परिभाषा,
मेरे मन की चिर - अभिलाषा,

मेरे प्राणों की प्रतिमा है तूही तो साकार।

मेरी आशाओं की आशा,
मेरे मूक - हृदय की भाषा,

मेरे तेरे बीच लगा है बे - तारों का तार ।

तू ही मेरा है व्रत - साधन,
तू ही है निश्रेयश - भाजन,

तेरे लघुतन के भीतर है छिपा सृष्टि का सार।

मानव-मन का भाव-निरूपण,
जीव-जगत का जीवित-चित्रण,

तेरे द्वारा हो जाता है ज्ञात विश्व - व्यापार।

तेरे होंठों का मृदु - हास,
भोले प्राणों का उल्लास,

क्षण में हर देता है मेरा मिथ्या - मनोविकार ।
हे चारुचन्द्र सुकुमार !

❀

दर्शन की अभिलाषा—

बज कर सहसा अंतिम बार,
टूट पड़े वीणा के तार !
करके प्रियतम का शृङ्गार,
बिखर पड़ा फूलों का हार !

खुला छोड़ मन-मन्दिर-द्वार,
जीवन-रथ पर हुई सवार—
रोता छोड़ विपुल संसार,
क्षण में पहुँच गई उस पार !

विकल हुए हैं युगल विलोचन;
देवि, करूंगा तेरा दर्शन !

मिलन - काल का बीता क्षण-सा,
चिर - वियुक्त के उर का व्रण - सा,
विधवा का उतरा कंकण - सा,
राग-विराग बीच चिर - रण - सा,
बाह्य - रूप का आकर्षण - सा,
शरद् - जलद् का परिवर्षण - सा,
वायु - वेग में बहता तृण - सा,
मरुस्थली में जल के कण - सा,

व्यर्थ न होवेगा यह अर्चन,
देवि, करूंगा तेरा दर्शन !

उन चरणों के चिन्ह निहार,
देख रहा हूँ दृग विस्फार;
पुतली पर तसवीर उतार,
छोड़ रहा हूँ आँसू - धार,
धोता हूँ फिर उसी प्रकार,
जैसे कोई प्रतिछविकार !
चित्रकला का ले आधार,
जी जाऊँगा दिन दो चार !
करके विकलित - विश्व-विसर्जन,
देवि, करूँगा तेरा दर्शन !

सरिता-तट पर घोर मसान,
है जो मृतकों का उद्यान,
जहाँ सभी हैं एक समान,
दीन, धनी या नीच, महान् —
रूप, कुरूप, शील, अभिमान,
भस्मित होते जहाँ निदान !
वहाँ पहुँच कर बन अनजान,
गाऊँगा मैं नीरव - गान !
राख बना आँखों का अंजन,
देवि, करूँगा तेरा दर्शन !

***

रहस्य

अखिल सृष्टि का चमत्कार है
छिपा एक ही अंकुर में !
भाव - जगत का भेद भरा है
भावुक - कवि के उर - पुर में।

जरा - जीर्णता छिपी हुई है
सरल - हासमय शैशव में
मीठी - पीड़ा मिली हुई है
मिथ्या - जग के वैभव में

आशा के झोंकों ने जिसको
मिला दिया था रज - कण में,
उसी बीज का वृहद् रूप है
प्रकट हुआ तरु में, तृण में ।

सारा सागर छिपा हुआ है
जल के छोटे से कण में;
मिलन - काल में विरह छिपा है
दीर्घ - काल-सा लघु - क्षण में ।

चित्रकार की चित्रपटी पर
प्रकृति-नटी का चिर - परिहास—
छिपा हुआ है तुहिन - कणों में
रजनी के उर का उच्छ्वास !

कड़ी साधना छिपी हुई है
प्रेमी के उद्गारों में —
जीवन का संगीत भरा है
वीणा के उड़ - तारों में !

* * *

वनमाली !

मैं हूँ भोली-भाली बाला,
मुझे न छेड़ो, वनमाली !
आई हूँ फूलों को चुनने—
लेकर पूजा की थाली ।

इष्टदेव के चारु-चरण पर
आज चढ़ानी है माला,
धधक रही है मन के भीतर
उनके दर्शन की ज्वाला ।

कब मैं इतने फूल चुनूँगी ?
कब मैं माला गूँथूँगी ?
कब मैं उनके ढिग पहुँचूँगी,
कब मैं शीश नवाऊँगी ?

हुआ चाहती है अब बेला
श्रद्धा - सुमन चढ़ाने की—
अपने रूठे हुए देव को
फिर से आज मनाने की !

छोड़ो, छोड़ो, यों मत छेड़ो,
मैं एकाकी हूँ, माली !
कभी न आऊँगी इस वन में—
छीनोगे जो यों थाली !

नहीं मिलेंगे फूल, स्वयम् मैं
बन जाऊँगी वरमाला ;
उनके उर - पुर में झूलूँगी
बन कर उनकी सुरबाला !!

***

गृह—जञ्जाल

दुखे हुए हैं कंधे मेरे
उठा-उठा कर घर का भार—
म्लान मुखाकृति, कुंठित मन है,
शोक - शरों से छिद्रित तन है,
रुग्णालय - सा बना सदन है,

सुख का दर्शन मात्र न होता;
नरक बना परिवार !

खाता, पीता, मित्र जनों में
करता नित्य विहार—

किन्तु न तो भी चैन हृदय को,
तरस रहा हूँ भाग्योदय को,
भूल गया हूँ पूर्व-प्रणय को !

ढूँढ थका, पर, मिला नहीं है
मुझे मुक्ति का द्वार !

घर-बैठे यह कठिन तपस्या
करनी पड़ती है लाचार !

हँसी बिना मुसकाना पड़ता,
अश्रु बिना रो जाना पड़ता,
भूख बिना ही खाना पड़ता,

सार-सहित नर-जीवन मेरा -
आज हुआ निस्सार !!

* * *

जीवन–नौका

बही तू जाती है किस ओर ?

मुक्त-रूप से, बिना विचारे,
किधर कहाँ है छोर ?

विश्व - जलधि के वक्षःस्थल पर,
तरल - तरंगों के छल - बल पर,
बँधी अगोचर के अञ्चल पर,

लिए अकेले मुझको निर्मम !
करके हृदय कठोर—
बही तू जाती है किस ओर ?

निविड़ निशा है, अगम उदधि है,
गरज रहा घन घोर !
अपना कोई सगा नहीं है,
सुख-भाग्य भी जगा नहीं है,
जो इस जग से लगा नहीं है,
माया-छल के कीड़ों ने है
लिया कलेजा कोर !
बही तू जाती है किस ओर ?

+ + +

थम जा ! मुझको लेने दे निज
खोई शक्ति बटोर !
बही तू जाती है किस ओर ?

***

क्रांति !

जी में आता है जीवन में
घोर उपद्रव करदूँ,
और, जगत के आगे अपना
हृदय चीर कर धरदूँ !
अपने उस प्रतिद्वन्दी-दल की
शंका सारी हर दूँ !
भूल पुरानी बातें सारी
भाव भले मैं भरदूँ ।

जो दुतकार दिया करते थे
पीछे वे पछतावेंगे,
प्यार करेंगे, मुख चूमेंगे,
और गले मिल जावेंगे ।

***

कविते !

विश्व-विनोदिनि कविते ! तेरा—
कहाँ नहीं है वास ?

शिशुओं की तुतली - बोली में,
युवकों की हँसी - ठठोली में,
वृद्धों की माला - झोली में,

छिपी-छिपी तू करती अपनी
प्रतिभा का सुविकास !
चिंतातुर के म्लान - वदन में,
विरह-व्यथित के अचल नयन में,
विफल-प्रणय के कुंठित-मन में,
प्रकटित होकर तू करती है—
नूतन भाव - विलास !
दीन - भिखारी की आहों में,
भूले - भटकों की राहों में,
मृतक - घाट के शव-दाहों में,
तेरे भक्त - जनों को मिलता
तेरा दिव्याभास !
नागरिकों के भव्य - भवन में,
ग्रामीणों के शान्त - सदन में,
त्यागी के तप्त तपोवन में,
अतिथि-रूप से करती है तू
कविते ! नित्य निवास !
मीरा के मादक गानों में,
तानसेन की मृदु तानों में,
निर्गुण - सन्तों के ध्यानों में,

तेरा शुभ-सन्देश छिपा है
बन कर चिर विश्वास !

महारथी के गीता - गुर में,
ओजस्वी - अर्जुन के उर में,
भीष्म - प्रतिज्ञा के अंकुर में,

भरा हुआ है विजय-मंत्र-सा
तेरा ही उच्छ्वास !

रूप - राज्य के भाव - भूप में,
मलिन-छाँह में, विशद-धूप में,
प्रकृति - प्रिया के रम्य-रूप में,

थिरक रहा है तेरा सुन्दर
शोभामय उल्लास !

अखिल विश्व के अंतस्तल में,
जल में, थल में, अनिल, अनल में,
तू ही तू है नभ-मण्डल में,

तू ही भूतल पर लाती है-
चिर स्वर्गीय हुलास !

❀

अंतिम-अभिलाषा

अपने जीवन की उलझन को
सुलझाने दो मुझको, नाथ !
मेरे अवनत-मस्तक पर अब
धर दो निज करुणा का हाथ।

भटक रहा हूँ बन-मानुष-सा
सिर पर धर काँटों का ताज;
जग हँसता है मेरे ऊपर—
रूठ गया है सभ्य-समाज !

विकलित हूँ मैं भूख-प्यास से,
थका हुआ है मेरा गात;
भाग्योदय के लिये निरन्तर
तरसा करता हूँ दिन - रात !

स्नेह - भरी आँखों से कोई
नहीं देखता मेरी ओर-
ढीली कब से पड़ी हुई है
मेरी इच्छाओं की डोर !

उठ-उठ कर फिर दब जाते हैं
मेरे मन के अविगत भाव,
सिल-सिल कर फिर उधड़ रहे हैं
मेरे उर के अगणित घाव !

ऊब कभी जब जाता हूँ मैं
अपनी दुरवस्था को देख—
ठुक - सी जाती है प्राणों में
आत्मघात की पैनी मेख !

मौखिक-हित-रत मित्र-जनों से
भरा हुआ है मिथ्या लोक;
और, कठिन-पथ पर गाड़ी को
वे ही तो लेते हैं रोक !

ऐसी छल से पूर्ण, विधाता !
मुझको दीख रही है सृष्टि—
स्वार्थ साध कर, फिर जाती है
अपने - अपनों की भी दृष्टि !

भावुकता से भरा हृदय है—
किस पर आज करूँ अभिमान ?
मैं हूँ आश्रय - हीन भिखारी,-
किससे माँगूं ईप्सित दान ?

कौन भला सुख-दुख का साझी
होवेगा अब मेरे साथ ?
तुम ही हो अवलम्बन मेरे,
हे मेरे जीवन के नाथ !

तुमने मुझे बनाया, तुम ही
चाहे मुझे मिटा दो आज !
अथवा, अपने पास बुला कर,
रख लो मुझ दुखिया की लाज !!

***

पंक्ति — पत्र

पंक्ति		पृष्ठ